श्री महेश प्रसाद पाठक*

पाञ्चरात्र साहित्य में वैष्णव भक्ति

वैष्णव परम्परा की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि यहाँ साधन के रूप में भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन श्रेयस्कर नहीं माना गया है। अर्चावतार प्रकरण में भले कर्मकाण्ड का विवेचन हुआ हो, पर वहाँ भी भक्ति के विना उसे निष्प्राण कहा गया है। वैष्णव-पाञ्चरात्र शाखा में भक्ति का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार से विवेचन हुआ है, जो यहाँ द्रष्टव्य है।

वैष्णव उपासना की प्राचीन अभिव्यक्ति पाञ्चरात्रमत के रूप में भी जानी जाती है। यह शास्त्र भगवत्-तत्त्व की विशद् व्याख्या करता है। जिस प्रकार अमृत के सेवन के पश्चात् अन्य वस्तु की स्पृहा नहीं रह जाती, उसी प्रकार पाञ्चरात्र का ज्ञान भी कहा गया है। पाञ्चरात्र मत में ग्रन्थों को जिन्हें 'संहिता' का नाम दिया गया है, उनकी संख्या दो सौ पन्द्रह मानी गयी है, परन्तु आज इनमें से कुछ ही संरक्षित है; जिनके नाम है- ईश्वरसंहिता, हयशीर्षसंहिता, विष्णुतत्त्वसंहिता, परमसंहिता, पराशरसंहिता, परमेश्वरसंहिता, पौष्करसंहिता, जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, प्रकाशसंहिता, मार्कण्डेयसंहिता, विष्वक्सेनसंहिता, ज्ञानामृतसारसंहिता, बृहद् ब्रह्मसंहिता आदि जैसे ग्रन्थ भागवत सम्प्रदायों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पाञ्चरात्र साहित्य में भक्ति का प्रमुख स्थान है, जिनमें भक्ति के साधन अर्थात् कर्तव्य-पक्ष तथा अर्चना के वाह्यपक्ष के विस्तृत विवेचन मिलते हैं। पाञ्चरात्र कहीं सात प्रकार के वर्णित है जैसे- ब्राह्म, शैव, कौमार, वशिष्ठ, कापिल, गौतमीय तथा नारदीय (ना॰पञ्च॰1/1/56-57), तो कहीं पाँच प्रकार के- वसिष्ठ, नारदीय, कपिल, गौतमीय और सनत्कुमारीय (ब्र॰वै॰पु॰,श्रीकृष्णजन्म खण्ड-अ॰130)।

नारद-पाञ्चरात्र:- यह वैष्णव साहित्य के एक प्राचीनतम प्रमुख ग्रन्थ के रूप में मान्य है। इसमें 'रात्र' शब्द "ज्ञान" का वाचक है। ये ज्ञान पाँच प्रकार के होते हैं- (1) परमतत्त्व (2) मुक्ति (3) भक्ति (4) योग तथा (5) विषय (संसार)।

पहला ज्ञान परमतत्त्व है जिसे जान लेने से जन्म, जरा और मृत्यु से मोह नहीं होता।

दूसरा ज्ञान है मुक्ति- जिसे जान लेने पर श्रीकृष्णचरण में निवास मिलता है।

तीसरा ज्ञान है शुद्ध एवं मंगलमय ज्ञान है- भक्ति।

चौथा ज्ञान है समस्त यौगिक सिद्धियों को देने वाला परम यौगिक ज्ञान, जो योगियों के लिये सर्वस्व तथा सिद्धों के लिये सुखप्रद है। और

पाँचवां वैषयिक अर्थात् सांसारिक ज्ञान है जो मनुष्यों के लिये परममोह का कारण है, इसकी इष्टदेवी 'माया' हैं।' (ना॰ पञ्च॰- 1/1/44-53)।

नारद-पाञ्चरात्र का आरम्भ महर्षिव्यास और शुकदेवमुनि के संवाद से होता है। एक आख्यान के अनुसार महर्षि व्यास कहते हैं- गोलोक में शतशृंगपर्वत पर भगवती विरजा के तट पर वटवृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण ने इसे श्रीराधाजी के समक्ष ब्रह्माजी को सुनाया; ब्रह्माजी ने इसे सुनकर गंगाजी के तट पर शिवजी को सुनाया और पुनः शिवजी ने इसे नारदजी को

*"गार्ग्यपुरम्" श्रीसाईं मन्दिर के पास, बरगण्डा, पो- जिला-गिरिडीह, (815301), झारखण्ड, Email: pathakmahesh098@gmail.com
मो. नं. 9934348196

सुनाया और नारदजी ने सूर्यग्रहण के अवसर पर मुझे सुनाया। (ना॰ पञ्च॰- 1/1/35-38)। इस प्रकार यह स्वप्रमाणित है कि नारद-पाञ्चरात्र के दिव्य सन्देश भगवान् श्रीकृष्ण प्रदत्त है, जिसकी दिव्यता भक्तिमार्ग को प्रशस्त करती है।

अहिर्बुध्न्य संहिता (11/64) में भी इसी पाञ्चरात्र के मत को देखा जा सकता है। ये पञ्चविध ज्ञान ही सात्त्विक, राजस एवं तामस की श्रेणी में इस प्रकार परिगणित हैं – पहला और दूसरा ('परमतत्त्व' और 'मुक्ति') 'सात्त्विक' ज्ञान कहलाते हैं, तीसरा ('भक्ति') सबसे अलग अर्थात् त्रिगुणातीत निर्गुण है, चौथा ज्ञान ('योग') 'राजसिक' है, जिसे गिने-चुने लोग ही चाहते हैं तथा पाँचवाँ ('विषय') 'तामसिक' है- जिसे विद्वान् नहीं चाहते। तात्त्विक दृष्टिकोण से पाञ्चरात्र संहिताओं में मुख्य चार प्रतिपाद्य विषय हैं-

(१) **ज्ञान-** ब्रह्म, जीव, जगततत्त्व, सृष्टितत्त्व आदि का विशेष एवं आध्यात्मिक निरूपण।

(२) **योग-** योग से सम्बन्धित प्रक्रियाओं का वर्णन जिससे मुक्ति का मार्ग मिले।

(३) **क्रिया-** वैष्णव मन्दिरों का निर्माण, उनमें स्थापित मूर्तियों के आकार-प्रकार का विस्तृत वर्णन तथा

(४) **चर्या-** वैष्णवों के पर्व-त्यौहार, पर्वविशेष पर विशिष्ट पूजन-कर्म-विधान, मूर्तियों तथा मन्त्रों के साथ पूजन की विधि, आह्निक आचार-कर्म आदि।

पाञ्चरात्र मत में एक उपासक का उपादेय तत्त्व उपास्य की प्राप्ति होती है। इसकी प्राप्ति के लिये प्रपत्ति या शरणागति एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। सामान्यतः जीव पापों एवं सांसारिक दोषों से लिप्त होता है, इसलिये इसके निवारण के लिये श्रीविष्णु का अनुग्रह अति आवश्यक है। इसी विश्वास से परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये उपासक प्रपत्ति के मार्ग का अनुसरण करता है। इस भाव में कहीं कोई दुराग्रह नहीं, दान, योग, जप-तप, तीर्थाटन आदि नहीं, बस सर्वथा दृढ़भावना से आस्था और विश्वास के साथ पूर्ण मनोयोग से भगवान् श्रीविष्णु पर ध्यान लगाते हुए आराधनरत रहना है कि उसके अभीष्ट कार्य मात्र भगवान् श्रीविष्णु ही कर सकते हैं। यह इस प्रकार की नौका है, जिसमें जो यात्री बैठता है उसे भगवान् स्वयं अपनी पतवार से खेकर पार लगाते हैं अर्थात् उसके पार पहुँचाने का समग्र दायित्व नाव के खेनेवाले (भगवान्) पर ही होता है। उसे नाव पर बैठने के अतिरिक्त और कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, बस उसे शरणागतिरूपी नाव में सवार हो जाना है। ये शरणागति षड्विध होते हैं-

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्वे वरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।। (अहि॰ सं॰- 37/28-29)।

(1) **अनुकूलस्य संकल्पः** - इसमें भक्त सदैव भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प लेता है।

(2) **प्रतिकूलस्य वर्जनम्** - भगवान् के लिये प्रतिकूल भावना का त्याग।

(3) **रक्षिष्यतीति विश्वासः** – भगवान् सदैव मेरी रक्षा करेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना।

(4) **गोप्तृत्वे वरणं** - भगवान् को अपना रक्षक के रूप में देखना अथवा स्वीकार करना।

(6) **आत्मनिक्षेप** - भगवान् के श्रीचरणों में स्वयं को समर्पित कर देना एवं

(7) **कार्पण्य** – अत्यन्त दीन होना।

शरणागति के इन सिद्धान्तों को भक्तिकाल के लगभग सभी कवियों ने स्वीकार किया है तथा अपने साहित्यों में स्थान देकर विस्तृत विवेचना भी की है। अतः शरणागति के प्रत्येक अंगों पर इनकी रचनाएँ, दोहे आदि देखे जा सकते हैं।

पाञ्चरात्र-पद का पञ्चकाल शब्द से भी सम्बन्ध दीखता है, क्योंकि पञ्चकाल परायण शब्द का प्रयोग इस सम्प्रदाय के आचार से भी परिलक्षित होता है, जिसमें वैष्णवों के आचार निर्वाह हेतु चौबीसों घंटे या एक अहोरात्र को पाँच भागों में बाँटकर, प्रत्येक काल में किये जाने वाले आचार कर्मों-कर्तव्यों को संकेत भी करता है। इस पञ्चकाल के अन्तर्गत प्रातःकाल

से लेकर रात्रि के उत्तरभाग पर्यन्त आचार-परक विधेय क्रियाओं अथवा व्यावहारिक अनुष्ठान करने होते हैं। इसे पञ्चकर्म का विधान (अर्चा-विधि) भी कहा जा सकता है। ये आचार कर्म हैं-

(1) **अभिगमन-** मन, वचन एवं कर्म से जप, ध्यान, अर्चना आदि के माध्यम से भगवत् उन्मुख होना।

(2) **उपादान-** पूजन कर्म हेतु अर्घ्य, पुष्प, नैवेद्य आदि का संचयन-संग्रहण करना।

(3) **इज्या-** शास्त्र-विहित नियमों के अनुसार भगवान् की विधिवत् पूजा करना।

(4) **अध्याय-** वैष्णवग्रन्थों का श्रवण, मनन और उपदेश। तथा

(5) **योग-** अष्टाङ्ग योग का अनुपालन, जिससे देव-मूर्ति में ध्यान प्रतिष्ठित होना तथा उनके स्वरुप एवं गुणों से तदाकार होना।

'जयाख्यसंहिता' के अनुसार यज्ञ, दान, वेद-स्वाध्याय, प्रायश्चित, तप आदि जो भी कर ले, सांसारिक आवागमन के बन्धनों से मुक्ति नहीं दिला सकते। इसके लिये परमतत्त्व का ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इसके पन्द्रहवें पटल में अग्निहोत्र, कुण्डनिर्माण आदि का विस्तृत वर्णन है तथा बीसवें पटल पर मूर्ति, मन्दिर, ध्यान आदि जैसे व्यावहारिक अनुष्ठान के वर्णन मिलते हैं। यह संहिता साक्षात् विष्णु के मुख से निकली है। इन्होंने सर्वप्रथम नारदजी को यह शास्त्र-विद्या प्रदान की थी। इस संहिता में कहा गया है- 'अज्ञाते भगवत्तत्त्वे दुर्लभा परमा गतिः॥'(1/38)। जबतक भगवत्-तत्त्व का ज्ञान नहीं हो जाता तबतक परमगति का मिलना दुर्लभ है। इसमें ब्रह्म और वासुदेव की अभिन्नता का भी वर्णन मिलता है।

'ईश्वरसंहिता' के अनुसार समस्त वेदों का स्रोत 'एकायन वेद' है जो वासुदेव से उत्पन्न हुए, जो सभी वेदों के मूल और सृष्टि के प्रारम्भ से ही मौजूद थे। मोक्षरूपी अयन (धाम) को प्राप्त करने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन नहीं, अतः इसे एकायन कहा गया। छान्दोग्योपनिषद् में भी एकायन शब्द को स्थान मिला है- 'वाकोवाक्यमेकायनं' (7/1/2), किन्तु शांकरभाष्य में इसे 'नीति' नाम दिया है। नारदमुनि ने चारों वेदों के साथ-साथ इस 'एकायन विद्या' का भी अध्ययन किया था। अतः वेदों से इस विद्या का पार्थक्य स्पष्ट है। (भक्ति का वि०- पृ०-227)। इस संहिता के 24 वें अध्याय में से 16 अध्यायों में पूजन के विविध विधानों का वर्णन मिलता है।

'हयशीर्षसंहिता' एक विस्तीर्ण ग्रन्थ है, जिसमें चार भाग है। इसके चौथे भाग "सौरकाण्ड" में देवताओं के विग्रह के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी जैसे- विग्रह-प्रतिष्ठा, उनका निर्माण आदि जैसे तत्त्वों का विवेचन है। कालान्तर में इसे दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाली एवं वैष्णवों के धर्म-दर्शन का प्रमाणसिद्ध एवं आधारभूत ग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली है।

'विष्णुतत्त्वसंहिता' में भक्ति के प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त प्रतिमा के अर्चन, विधि, भोग, वैष्णव मुद्राओं का अङ्कन, पवित्रीकरण आदि जैसे विधियों का वर्णन मिलता है।

'परमसंहिता' में सृष्टि की उत्पत्ति, दीक्षा-विधि, पूजन-कर्म के प्रकार, योग-निरूपण, इन्द्रियों के दमन, प्राणायाम, समाधि आदि का विस्तृत वर्णन है।

'पराशरसंहिता' में ईश्वर के नाम-जप की विधि का वर्णन है।

'परमेश्वरसंहिता' में भी ईश्वरसंहिता की तरह एकायन वेद, जिसमें सात्वतविधि का वर्णन है; मिलता-जुलता वर्णन मिलता है।

'पौष्करसंहिता' प्राचीन संहिता के रूप में जानी जाती है। इस ग्रन्थ में प्रतिमा-पूजन आदि के साथ-साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी विवेचन मिलता है। आचार्य रामानुज की अनुपम कृति ब्रह्मसूत्रों 'श्रीभाष्य' में इसके उद्धरण मिलते हैं।

'अहिर्बुध्न्यसंहिता' का पाञ्चरात्र साहित्य में अपना एक विशेष महत्व है। इसमें अहिर्बुध्न्य ऋषि ने तपस्या के उपरान्त संकर्षण से सुदर्शनस्वरूप सत्यज्ञान की प्राप्ति का वर्णन मिलता है, जो विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है। ब्रह्म

जो ज्ञानरूप, सर्वगुणसम्पन्न है, स्वयं को नानारूप में प्रकट करता है। ईश्वर में शक्ति अभिन्न रूप से स्थित है, यह जगत् उसी की एक अभिव्यक्ति है, जिसे आनन्द कहा गया है। सत्यज्ञान के द्वारा जब जीव के पाप आदि समाप्त हो जाते हैं, वासनायें नष्ट हो जाती हैं तभी उसे परब्रह्म का अनुभव होता है। यह ब्रह्म प्राकृतिक गुणों से हीन होने के बाद भी षड्गुणों से युक्त होता है। यही ज्ञानमय ब्रह्म स्वयं को नानाविध करने का जब संकल्प लेता है तब वह 'सुदर्शन' कहलाता है। ईश्वर की शक्ति की अभिव्यक्ति ही यह संसार के कण-कण में देखी जाती है। ईश्वर की शक्ति आनन्दरूप और निरपेक्ष है। इसे ही हम विविध नामों जैसे श्री, कमला, कुण्डलिनी, गायत्री, शिवा, प्रकृति, सरस्वती, नारायणी आदि नामों से भी व्यक्त करते हैं। इन्हीं की प्रेरणा से प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, तभी त्रिगुणात्मिका प्रकृति रचनात्मक विकास की ओर प्रेरित होती है। ईश्वरीय शक्ति की दो विभिन्न युगल-क्रियाओं से अनेक रचनाएँ विकसित होती है, जिनमें ज्ञान और बल प्रमुख है। जिनका आश्रय लेकर संकर्षण का आध्यात्मिकरूप उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का, शक्ति और तेज से अनिरुद्ध का जन्म होता है। ये तीनों आध्यात्मिक व्यूह कहे जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यूह में युग्म-गुणों की प्रधानता है, अतः ये विष्णु की अभिव्यक्ति कहे जाने के कारण षड्गुणों से उपेत (युक्त) भी है।

इन व्यूहों के मुख्य तीन कार्य हैं-

(1) सृष्टि-स्थिति-प्रलय, (2) सांसारिक जीवों का पोषण तथा (3) मुमुक्षु भक्तों की सहायता।

उपर्युक्त वर्णित तीनों रूप वासुदेव से अभिन्न है और श्रीविष्णु के शुद्ध अवतार के रूप में भी जाने जाते हैं। पुनः प्रत्येक व्यूह में से उपव्यूह- 'वासुदेव' से केशव, नारायण और माधव, 'संकर्षण' से गोविन्द, विष्णु और मधुसुदन, 'प्रद्युम्न' से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर तथा 'अनिरुद्ध' से हृषिकेश, पद्मनाभ तथा दामोदर प्रकट होते हैं। ये ही प्रत्येक मास के अधिष्ठातृ देव कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् के विभिन्न आवेशावतार, विभव-अवतारों की भी उत्पत्ति होती है, जो सन्तों के त्राण, दुष्टों के विनाशक तथा भगवद्भक्तिपरायण वैदिक धर्म के प्रतिष्ठाता के रूप में व्यक्त होते हैं। भक्त अपनी भावना के अनुसार मिट्टी, पत्थर, धातु आदि के द्वारा निर्मित यथाविधि प्रतिष्ठित भगवान् की मूर्तियों में अपने आराध्य को खोजता है और अन्ततः अपनी श्रद्धा और विश्वास के द्वारा भगवान् को उन्हीं में विराजमान भी पाता है। भगवान् के इन्हीं भावित रूप का नाम अर्चावतार है।

वैष्णव धर्म के विपुल साहित्य भण्डार में से कुछ तो विलुप्त हो गये, लेकिन आज भी अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पाञ्चरात्र साहित्य ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, अर्चा, विग्रह, उपासना आदि का विस्तृत अध्ययन करता है। आचार्य रामानुज ने अपनी कृति 'श्रीभाष्य' में कहा है- 'पाञ्चरात्रमत को सांख्य, योग, पाशुपत और वेदों के समान स्वतःप्रमाण समझना चाहिये।' यह सन्दर्भ भी आया है कि नारदपाञ्चरात्र, जयाख्यसंहिता आदि-जैसे शास्त्रों को भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है। स्वयं भगवान् के कहे वचनों के लिये किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वह स्वप्रमाणित होते हैं। संक्षिप्ततः यही कहा जा सकता है कि प्रभु हमारे सभी कर्मों के द्रष्टा और ध्यान के केन्द्र हैं। इसलिये स्वयं ही 'अनुकूलस्य संकल्पः' आदि का अनुगमन करते हुए पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तिम सोपान मोक्ष को साध्य बनाना अति आवश्यक है। लेकिन जो उत्कट भक्त हुआ करते हैं, वे मोक्षमार्गीय नहीं हुआ करते; बल्कि उन्हें तो अपने आराध्य के नित्य सेवन-दर्शन करना ही अधिक आनन्ददायक प्रतीत होता है, ऐसे भक्तों के लिये मोक्ष का कोई महत्व नहीं! क्योंकि सामान्यतः भक्त ही अपने भगवान् या आराध्य की भक्ति किया करते हैं किन्तु यहाँ तो भगवान् ही अपने भक्त के संग नित्यलीला किया करते हैं। इस स्थिति में जिन्हें भगवान् ही स्वयं चाहते हों, उन्हें मुक्ति क्यों भायेगी ? ऐसे मार्ग के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में जो भक्त जाने जाते हैं- वह हैं- व्रज की गोपियाँ। ये कहा करतीं हैं- "ब्रह्म मिलिवै तै कहाँ मिलवै बतावौ हमैं। ताकौ फल जब लौं मिलै ना नन्दलाला हू।।" (उद्धवशतक- पृ० ६२)

***